शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

मार्च : १९५७ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ फाल्गुन, अंक : ११

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

रत्नत्रय का भक्त

[नियमसार कलश २२० के प्रवचन से]

इस भागवत शास्त्र में परम भक्ति का वर्णन करते हुए श्री आचार्यदेव कहते हैं कि—अपने ज्ञानानन्दस्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान और रमणता, वह सच्ची भक्ति है। अपने चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि ओर स्वसंवेदन करके उसमें लीन होना ही रत्नत्रय की परम भक्ति है, और उसी को भगवान धर्म कहते हैं।

जो जीव भव भय हर्ता ऐसे सम्यक्त्व की, शुद्धज्ञान की और चारित्र की भवछेदक अतुल भक्ति निरन्तर करता है, वह काम क्रोधादि समस्त दुष्ट पाप समूह से मुक्त चित्तवाला जीव-श्रावक हो या संयमी हो—निरन्तर भक्त है... भक्त है।

अहो! श्रमण को या श्रावक को द्रव्यदृष्टि की मुख्यता में क्षण-क्षण रत्नत्रय की आराधना वर्तती है... उनके रोम-रोम में रत्नत्रय की भक्ति परिणमित हो गई है... इसलिये वह भक्ति है—भक्ति है।

देखो, यह सम्यक्त्वी का भजन!! अपने शुद्ध परमात्मा का आश्रय करके सम्यक्त्वी उसी का भजन करता है। परमात्मतत्त्व के भजन से जो शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो, वही भवभय का नाश करनेवाली भक्ति है। सर्वज्ञ के मार्ग में जो शुद्ध रत्नत्रय को भजे, उसी को भक्त कहा है। जो जीव रत्नत्रयरूप परिणमित हुआ, वह रत्नत्रय का भक्त है; और ऐसे जीव को रत्नत्रय के आराधक अन्य जीवों के प्रति वात्सल्य एवं बहुमान का भाव आता है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१४३]

एक अंक
चार आना

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ [सौराष्ट्र]

नया प्रकाशन

मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें

[द्वितीय भाग]

पृष्ठ संख्या ४५३ सजिल्द, मूल्य लागत मात्र २)

जिसमें सातवें अधिकार में से जैन मत अनुयायी मिथ्यादृष्टि के स्वरूप पर बड़ी स्पष्ट शैली में सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने व्याख्यान किये हैं उन व्याख्यानों का सार है।

आज ही मंगाइये—

पता— जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मंगाइये! अवश्य मंगाइये!!

नवीन प्रकाशित हिन्दी भाषा में

जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला

प्रथम भाग मूल्य लागत मात्र ॥-)

इसके प्रथम भाग में द्रव्य, गुण, पर्याय तथा अभाव इन चार विषयों से सम्बन्धित अनेक प्रकार के प्रश्न उठाकर उनके आगम, न्याय, युक्ति एवं स्वानुभव सहित बहुत ही सुन्दर एवं विस्तृत उत्तर दिये गये हैं। इसका दूसरा भाग और तीसरा भाग भी शीघ्र प्रकाशित हो रहे हैं।

मिलने के पते—

श्री सेठी दि० जैन ग्रंथमाला
६२, धनजी स्ट्रीट, बंबई-३

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म

मार्च : १९५७ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ फाल्गुन, अंक : ११

आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में आचार्यदेव ने ४७ नयों से आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उस पर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार

''हे भगवान! आत्मा कौन है और कैसे उसकी प्राप्ति होती है?''—ऐसा आत्मार्थी शिष्य पूछता है; ऐसे शिष्य पर परम अनुग्रह करके आचार्य भगवान आत्मा का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय समझाते हैं:—

(४६) अशुद्धनय से आत्मा का वर्णन

अशुद्धनय से देखने पर, घट और रामपात्र की विशिष्ट मिट्टी मात्र की भाँति, आत्मद्रव्य सोपाधि स्वभाववाला है।

जिसप्रकार मिट्टी में घड़ा, रामपात्र आदि अवस्थाएँ होती हैं, वह उसका एकरूप भाव नहीं है, उस अपेक्षा से वह उपाधिभाव है; उसीप्रकार आत्मा की अवस्था में जो विकारी भाव होते हैं, वह उसका एकरूप स्वभाव नहीं किन्तु उपाधिभाव है-अशुद्ध है। पुद्गल में तो घड़ा आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती रहती हैं—ऐसा उसका स्वभाव है; किन्तु आत्मा की पर्याय में जो अशुद्धता होती है, वह सदैव होती रहे—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है; यानी अशुद्धता उसका स्थायी स्वभाव नहीं है किन्तु उपाधिभाव है, तथापि उस उपाधिभाव को भी एक समयपर्यंत की पर्याय में आत्मा ने धारण कर रखा है, इसलिये वह भी आत्मा का एक धर्म है, और उस धर्म की अपेक्षा से देखने पर आत्मा सोपाधि स्वभाववाला है। यहाँ 'सोपाधि स्वभाव' कहा, उसे त्रिकाली स्वभाव नहीं समझना, किन्तु वह अशुद्ध पर्याय जितना क्षणिक स्वभाव है। ज्ञानी जानते हैं कि यह अशुद्धता है और मेरी पर्याय में होती है, इसलिये अशुद्धनय से मैं उपाधिवाला-अशुद्ध हूँ।

ध्यान रहे, कि यहाँ अशुद्धनय से आत्मा का वर्णन करते हैं। उसमें भी शुद्धचैतन्य मात्र आत्मद्रव्य की दृष्टि कराने का ही तात्पर्य है।—किसप्रकार? देखो, यह अशुद्धनय से अशुद्धता दिखाई देती है, वह तो एक क्षणिक धर्म है और आत्मद्रव्य तो एक साथ अनंत धर्मोंवाला है; अनंत धर्मों को स्वीकार करते हुए शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा की दृष्टि हुए बिना नहीं रहती; इसलिये यह अशुद्धनय भी उसी को होता है जिसकी दृष्टि शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा पर हो। 'अशुद्धनय' वह स्वयं कहीं अशुद्धता नहीं है, वह स्वयं तो श्रुतज्ञान का एक निर्मल पक्ष है।

आत्मा में अनंत धर्म हैं, उनके लक्षपूर्वक साधक जीव उपाधिधर्म को जानता है; अशुद्धतारूप क्षणिक उपाधिधर्म के समय ही मेरे आत्मा में शुद्ध स्वभावरूप निरुपाधिक धर्म भी साथ ही है—ऐसा साधक जानता है; इसलिये अशुद्धनय से उपाधि को जानते समय निरुपाधिक स्वभाव का भी उसके अंशतः परिणमन वर्तता है। साधक के अकेली अशुद्धता ही परिणमित नहीं होती, अशुद्धता के समय अंशतः शुद्धता भी साथ ही रहती है और उसी के सम्यक् अनेकान्त तथा नय होते हैं। जिस जीव को अपने में मात्र अशुद्धता का ही परिणमन भासित होता है और शुद्धता किंचितमात्र भासित नहीं होती, उसके तो ऐसा अशुद्धनय भी नहीं होता; वह तो मिथ्यादृष्टि है; मिथ्यादृष्टि को एक भी नय सच्चा नहीं होता।

विकार की जो उपाधि है, वह भी जीव की वर्तमान पर्याय का स्वभाव है; अशुद्धनय से देखने पर आत्मा उस उपाधियुक्त दिखाई देता है। राग से धर्म होता है, व्यवहार के आश्रय से निश्चय होता है—ऐसी मिथ्या मान्यता का भाव तो अज्ञानी का उपाधिभाव है। वह मिथ्या मान्यता दूर होने के पश्चात् अस्थिरता से जो क्रोधादि भाव होते हैं, वह भी उपाधिभाव है। वह उपाधिभाव भी आत्मा में होता है—ऐसा ज्ञानी अशुद्धनय से जानते हैं। यहाँ नय की बात है; नय ज्ञानी के ही होते हैं और मिथ्यात्व का उपाधिभाव उसके नहीं होता। मिथ्यात्व अतिरिक्त जो रागादि उपाधिभाव होते हैं, वे किसी पर के कारण नहीं किन्तु अपनी पर्याय का वैसा स्वभाव है—ऐसा धर्मी जानता है। द्रव्य के शुद्ध स्वभाव के ज्ञानपूर्वक वह पर्याय की अशुद्धता को जानता है। आत्मा की पर्याय में जो विकारी भाव होते हैं, वह उसका एक समय का उपाधिभाव है; वह उपाधिभाव पर में नहीं है और न पर के कारण है, किन्तु आत्मा की पर्याय का वैसा धर्म है। उपाधिभाव होने का धर्म यदि आत्मा का अपना न हो तो दूसरे अनंत परद्रव्य एकत्रित होकर भी उसमें उपाधिभाव की उत्पत्ति नहीं करा सकते। निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक जो उपाधिभाव-विकारभाव-उदयभाव-

संसारभाव है, उसे उस-उस पर्याय में आत्मा स्वयं धारण कर रखता है, इसलिये शुद्धनय से वह भी आत्मा का धर्म है; वह त्रिकाली स्वभाव नहीं है और न पर के कारण है। लक्ष्मी-शरीर-स्त्री-पुत्र-घरबार-दुकान आदि परवस्तुओं की उपाधि आत्मा में नहीं है, आत्मा पर की उपाधिवाला नहीं है, किन्तु अपनी पर्याय में जो विकार होता है, उस विकार की उपाधिभाव आत्मा है। 'उपाधि' कहते ही यह बात उस में आ जाती है कि वह स्थायी मूल स्वभाव नहीं है। पर्याय में एक समय की उपाधि है, किन्तु शुद्धनय से अन्तर्मुख स्वभाव को देखने से उसमें उपाधि नहीं है।—इसप्रकार दोनों पक्षों से आत्मद्रव्य को जानना और जानकर शुद्धता की ओर ढलना-उसका नाम धर्म है। त्रिकाल निरुपाधि ऐसा शुद्ध द्रव्य और क्षणिक उपाधिरूप अशुद्धता—दोनों की यथार्थ पहिचान होने पर, शुद्ध द्रव्य की दृष्टि से पर्याय का उपाधिभाव दूर होता जाता है और शुद्धता बढ़ती जाती है।

अशुद्धनय से उपाधिस्वभाववाला है—लेकिन कौन?—तो कहते हैं आत्मद्रव्य। वह आत्मद्रव्य कैसा है? एक साथ अनंत धर्मोवाला है; आत्मद्रव्य सर्वथा अशुद्ध-उपाधिवाला नहीं है, किन्तु अशुद्धनय से उपाधिवाला है, इसलिये अशुद्धनय के समय भी धर्मी को दूसरे शुद्ध पक्ष का ज्ञान वर्तता है। अनंत धर्मवाले शुद्ध आत्मद्रव्य के लक्ष से उपाधिस्वभाव का यथार्थ ज्ञान होता है; अकेली उपाधि के लक्ष से उपाधि का यथार्थ ज्ञान नहीं होता; किन्तु एकान्त अशुद्धनय हो जाता है।

उपाधिभाव एक समय की पर्याय का धर्म है; त्रिकालस्थायी रहे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। यहाँ प्रमाण के विषय में द्रव्य-पर्याय दोनों का वर्णन है; इसलिये उपाधिभाव को भी आत्मा का स्वभाव कहकर उस पर्याय का ज्ञान कराया है। विकार को एक समयपर्यंत आत्मा ने स्वयं धारण कर रखा है; यदि उसे न जाने तो पूरी वस्तु का प्रमाणज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये सम्यग्ज्ञान नहीं होगा।

क्या पंचम काल के कारण आत्मा में उपाधि है?—नहीं; पंचम काल के कारण उपाधि नहीं है किन्तु जीव का ही वैसा धर्म है। देखो, संत ऐसा कहते हैं कि तेरा उपाधिभाव तेरे ही कारण है-पर के कारण नहीं है, तथापि जो जीव ऐसा नहीं मानता और पर के कारण उपाधि मानता है, वह वास्तव में भगवान की या संतों की आज्ञा नहीं मानता। पंचम काल में जन्म लेनेवाला कोई जीव उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त कर ले—ऐसा कभी नहीं हो सकता—लेकिन उसका कारण? कहीं पंचम काल के कारण केवलज्ञान नहीं रुका है, किन्तु जीव की अपनी पर्याय में उस प्रकार के उपाधिभाव के कारण ही केवलज्ञान रुका है।

पुनश्च, जिसे नरकगति की आयु बंधी हो, उसे पंचम गुणस्थान नहीं आता; जुगलिया में

देवगति में या नरक में सम्यग्दर्शन होता है किन्तु व्रतादि नहीं होते-पंचम गुणस्थान नहीं होता। तीसरे नरक तक से निकलकर मनुष्य हुआ जीव ही तीर्थंकर हो सकता है, तत्पश्चात् चौथे नरक से निकला हुआ जीव केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है किन्तु तीर्थंकर नहीं हो सकता; पाँचवें नरक से निकला हुआ जीव मुनिदशा प्राप्त कर सकता है किन्तु केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता; छठवें नरक से निकला हुआ जीव पाँचवें गुणस्थान की श्रावकदशा प्राप्त कर सकता है, किन्तु मुनिदशा प्राप्त नहीं कर सकता; सातवें नरक से निकला हुआ जीव मनुष्य नहीं होता—ऐसा नियम है।—लेकिन उसका कारण? क्या कर्म के अथवा पूर्व पर्याय के कारण वैसा होता है?—नहीं; उन-उन जीवों को उस पर्याय में ही वैसा उपाधिभावरूप धर्म है, और उस कारण ही उसके केवलज्ञानादि अटके हैं। सम्यक्त्वी जानता है कि मेरी पर्याय में ही ऐसा उपाधिभाव है, इसलिये केवलज्ञान, मुनिदशा अथवा श्रावकदशा अटकी है, किसी पर के कारण मेरी दशा नहीं अटकी है और न पर के कारण उपाधिभाव है। क्षणिक उपाधि के समय भी शुद्धनय से तो मैं निरुपाधिक शुद्ध स्वभाव हूँ—ऐसा भान धर्मी के दूर नहीं होता। पूर्वकाल के वैसे उलटे संस्कार हैं, इसलिये वर्तमान में उपाधिभाव है—ऐसा कहना वह पूर्व पर्याय के उपचार का कथन है। वास्तव में तो वर्तमान पर्याय ही वैसे उपाधि स्वभावरूप से हुई है, इसलिये उस पर्याय का ही वैसा धर्म है। उसी प्रकार सिद्धदशा होने से ऊर्ध्वगमन होता है, वह पूर्व प्रयोग के कारण होता है—ऐसा कहना भी उपचार का कथन है, वास्तव में तो उसकी उस समय की पर्याय का ही वैसा ऊर्ध्वगमनस्वभाव है। यह ऊर्ध्वगमनस्वभाव उपाधिभाव नहीं है किन्तु पर्याय का निरुपाधिक भाव है। धर्मी जीव अपनी पर्याय के उपाधिधर्म को जानता हो या निरुपाधिस्वभाव को जानता हो, किन्तु शुद्ध चैतन्य द्रव्य पर से उसकी दृष्टि नहीं हटती।

—यहाँ ४६ वे अशुद्धनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

(४७) शुद्धनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य शुद्धनय से केवल मिट्टीमात्र की भाँति निरुपाधि स्वभाववाला है। जिस प्रकार अकेली मिट्टी का पिण्ड पड़ा हो, वह केवल मिट्टी ही है; उसमें कोई उपाधि नहीं है; उसीप्रकार शुद्धनय से देखने पर आत्मा निरुपाधिक एक स्वभावी है, उसमें कोई उपाधि नहीं है। क्षणिक पर्याय में अशुद्धता है, उस अपेक्षा से उपाधि है, किन्तु सामान्य स्वभाव की अपेक्षा से आत्मा में उपाधि नहीं है। उपाधि के समय भी आत्मा में यह निरुपाधिक स्वभाव है। एक समय में आत्मा ऐसे अनेक धर्मोंवाला है। शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा को दृष्टि में लेना, वह इन सब धर्मों को जानने का फल है।

पर्याय में क्षणिक उपाधि है, उसी क्षण साधक को निरुपाधि शुद्ध स्वभाव का भान है, और पर्याय में भी अंशतः निरुपाधिकता प्रगट हुई है, इसलिये साधक के भी पर्याय में उपाधिपना और निरुपाधिकता—दोनों धर्म एक साथ परिणमित होते हैं। यदि ऐसा न हो और अकेली उपाधि ही हो तो एकान्त हो जाता है।

यहाँ अनेक प्रकार से आत्मा के धर्मों का वर्णन करके आत्मद्रव्य की पहिचान कराई है। यह समस्त धर्म आत्मा के अपने हैं, वे कोई पर के कारण नहीं हैं। गमन, स्थिरता, अवगाहना, परिणमन—वे सभी धर्म अपने हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल निमित्त हैं, किन्तु गति आदि धर्म कहीं निमित्त के नहीं हैं और न निमित्त के कारण हैं, वे तो अपने ही धर्म हैं।—इसप्रकार जो अनंत धर्मों को धारण करनेवाले स्वयं सिद्ध आत्मा को जाने, वह ज्ञान सम्यक् है।

भगवान आत्मा अनंत धर्मों के पिण्डरूप शुद्ध चैतन्य द्रव्य है; वचन से तो उसके अमुक धर्मों का वर्णन हो सकता है। यहाँ आचार्यदेव ने ४७ धर्मों द्वारा आत्मा का वर्णन किया है; उन धर्मों में जितने धर्म उपाधिरूप अर्थात् अशुद्धतारूप हैं, वे सिद्धदशा में नहीं होते और जो स्वाभाविक धर्म हैं, वे सब सिद्धदशा में भी होते हैं। सिद्ध भगवान को कहीं नय से देखना नहीं रहा है, उन्हें कुछ साधना शेष नहीं रहा है; यहाँ तो साधक जीव स्वयं अपने आत्मा को प्रमाण और नय द्वारा साधता है उसकी बात है।

जो शिष्य जिज्ञासु होकर आत्मा का स्वरूप समझना चाहता है, उसने पूछा था कि हे प्रभो! यह आत्मा कौन है?—ऐसे जिज्ञासु शिष्य को भगवान आचार्यदेव ने प्रथम तो ऐसा बतलाया कि आत्मा वास्तव में चैतन्य सामान्य द्वारा व्याप्त अनंत धर्मों का अधिष्ठाता एक द्रव्य है; वह श्रुतज्ञान प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा ज्ञात होता है। इतना कहकर फिर ४७ नयों द्वारा आत्मा का स्वरूप समझाया। शिष्य को यह बात समझने की अभिलाषा है, इसलिये वह बेगार से नहीं सुनता किन्तु अंतर में आत्मा को समझने की आकांक्षापूर्वक सुनता है;—ऐसे शिष्य को यह समझाया है।

—यहाँ ४७ वें शुद्धनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

(अब, जो नय अपेक्षासहित हैं, वे ही सम्यक हैं, और अपेक्षारहित एकान्त नय मिथ्या हैं—यह बात कहेंगे। तत्पश्चात् 'शुद्ध चैतन्यमात्र निज आत्मद्रव्य को अंतर में देखना ही तात्पर्य है'—ऐसा बतलायेंगे।—इसप्रकार आत्मद्रव्य का कथन पूर्ण करके फिर उसकी प्राप्ति का मार्ग कहेंगे।)

जिनशासन की महिमा

[१]

[श्री भावप्राभृत गाथा ७६-७७-७८ के प्रवचनों से]

हे जीव! तू अपने श्रेय के लिये सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव को अंगीकार कर—ऐसा जिनशासन में भगवान जिनेन्द्रदेव का उपदेश है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागी शुद्धभाव ही मोक्ष का कारण है और उस शुद्धभाव की प्राप्ति जैनशासन में ही है; उसी से जैनशासन की महिमा है। इसके सिवा राग, वह जैनधर्म नहीं है, और उसके द्वारा जैनशासन की महिमा नहीं है।

देखो, यह जैनशासन का उपदेश!!!

अरे जीव! तेरे आत्मा में प्रभुता उछलती है.... और तेरी पामरता नष्ट हो जाये—ऐसी अद्‌भुत बात इस जैनशासन में संतों ने बतलाई है। इसलिये हे भाई! एक बार अपनी रागबुद्धि छोड़कर यह बात समझ। इसे समझने में ही तेरा हित है। [पू० गुरुदेव]

जीव के तीन प्रकार के भावों में श्रेयस्कारी—ऐसे शुद्ध भाव को अंगीकार करने का उपदेश

इस 'भावप्राभृत' में शुद्धभाव की प्रधानता है अर्थात् शुद्धभाव ही मोक्ष का कारण है—ऐसा बतलाया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो वीतरागी शुद्धभाव है, वही मोक्ष का कारण होने से उपादेय है; इसके सिवा शुभ या अशुभराग, वह सचमुच उपादेय नहीं है।

मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्ररूप शुद्धभाव की प्राप्ति, जैनशासन में ही है और उसी से जैनशासन की महिमा है। मोह अथवा राग-द्वेष, वह जैनधर्म नहीं है, किन्तु मोह और राग-द्वेषरहित—ऐसा वीतरागी शुद्धभाव ही जैनधर्म है।

यह भावप्राभृत है। कौन-सा भाव उपादेय अथवा कौन-सा मोक्ष का कारण है—उसका इसमें वर्णन है। श्री जिनेश्वरदेव ने जीव के भाव तीन प्रकार के कहे हैं—शुभ, अशुभ और शुद्ध। उनमें शुभभाव तो पुण्यबंध का कारण है, अशुभभाव, पापबंध का कारण है और शुद्धभाव तो शुद्ध स्वभाव ही है, इसलिये वह मोक्ष का कारण है।—इसप्रकार जिनेश्वरदेव ने तीन भाव कहे हैं, उन्हें

जानकर हे जीव! जो श्रेयस्कर हो, उसका तू आचरण कर।

इस भावप्राभृत में शुद्धभाव की प्रधानता है; यह शुद्धभाव ही मोक्ष का कारण है, इसलिये यही उपादेय है; अर्थात् शुद्धभाव ही सच्चा धर्म है। साधकदशा में शुद्धभाव के साथ शुभ भी होता है, किन्तु वह शुभराग कहीं धर्म नहीं है, तथापि उसे धर्म कहना, वह उपचारमात्र है; और अशुभ की अपेक्षा से शुभ को भी व्यवहार से उपादेय कहा जाता है, किन्तु परमार्थ से तो वह हेय ही है।

आत्मा सम्यग्ज्ञानमय चैतन्यसूर्य है; उसके प्रकाश में शुभ-अशुभ भाव ज्ञात होते हैं, किन्तु वे चैतन्यसूर्य के साथ एकमेक नहीं हैं—चैतन्यसूर्य से भिन्न हैं।

रागरहित शुद्धभाव अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव, वह आत्मा का स्वभाव है; उसकी चैतन्य के साथ एकता है। इसप्रकार शुद्ध तथा शुभ-अशुभभावों को जानकर उनमें से कल्याणकारी भाव को अंगीकार करने का जिनदेव का उपदेश है।

—कौन-सा भाव, कल्याणकारी है ?

—शुद्धभाव, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप वीतरागभाव ही वास्तव में जीव को कल्याणकारी हैं, इसलिये वही उपदेश है; इसलिये हे जीव! तू उन सम्यग्दर्शनादिक शुद्धभावों को सम्यक् प्रकार से अंगीकार कर—ऐसा भगवान का उपदेश है।

हिंसादि अशुभभाव से तो पाप का बंधन होता है और उसका फल दुर्गति में भ्रमण है तो उसे श्रेयकारी कैसे कहा जा सकता है ?

इसीप्रकार दया अथवा व्रतादि के शुभभाव से पुण्य का बंधन होता है और उसके फल में स्वर्गादि भव मिलते हैं, किन्तु उनके द्वारा कहीं भवभ्रमण का नाश नहीं होता; तो उस शुभ को भी श्रेयकारी कैसे कहा जायेगा ?

शुभ और अशुभ दोनों से पार चिदानंद आत्मस्वभाव की सम्यक्श्रद्धा जीव ने पहले कभी एक क्षण भी नहीं की; यदि एकबार भी सम्यक्श्रद्धा करे तो अल्पकाल में मुक्ति हो जाये।—इसप्रकार सम्यक्श्रद्धा तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र, वह शुद्धभाव है और उसका फल परमश्रेयरूप मोक्ष है; इसलिये वह शुद्धभाव ही जीव को सचमुच श्रेयकारी है।

—ऐसा जानकर हे जीव! तू अपने श्रेय के लिये सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को अंगीकार कर,—ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है।

शुद्धरत्नत्रय से ही जिनशासन की महिमा

जीव को श्रेय के लिये सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव अंगीकार करने को कहा; अब कहते हैं कि उस रत्नत्रयरूप बोधि की प्राप्ति जैनशासन में ही होती है। यह जिनशासन की महिमा है कि जीव को तीन भुवन में पूज्य ऐसी बोधि की प्राप्ति जिनशासन में ही होती है। बोधि अर्थात् रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग; वह तीन लोक में पूज्य है और उसकी प्राप्ति जिनशासन में ही होती है।—कैसे जीव को उसकी प्राप्ति होती है? एक तो जिसका मिथ्यात्वरूप मोह नष्ट हो गया है तथा परद्रव्य में अहंकार-ममकाररूप मान-कषाय जिसका गल गया है; इसप्रकार मिथ्यात्व तथा पर में इष्ट-अनिष्टपने की बुद्धि के नाश से जिसका समभावी चित्त हुआ है—ऐसा जीव जिनशासन में अपूर्व बोधि को प्राप्त होता है।

देखो, यह जिनशासन की महिमा! अन्य प्रकार से जिनशासन का माहात्म्य नहीं है किन्तु बोधि अर्थात शुद्धरत्नत्रयरूप भाव की प्राप्ति जैनशासन में ही होती है; उस शुद्ध रत्नत्रय के भाव द्वारा ही जैनशासन की महत्ता है, अर्थात् वही वास्तव में जैनशासन है। राग, वह जैनशासन नहीं है, उसके द्वारा जैनशासन की महत्ता नहीं है। जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो-श्रेय हो-हित हो—ऐसे शुद्धभाव द्वारा ही जैनशासन की प्रधानता है; पुण्य द्वारा उसकी प्रधानता नहीं है।

अहो! तीन भुवन में सारभूत ऐसी जो रत्नत्रयरूप बोधि, उसे जीव जैनशासन में ही प्राप्त करता है; इसके सिवा अन्यत्र तो बोधि (मोक्षमार्ग) है ही नहीं। जैनशासन में ही यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप बोधि का उपदेश है और उसकी प्राप्ति भी जैनशासन में ही है। 'जैनशासन' कहीं बाह्य में नहीं है, किन्तु आत्मा के शुद्धपरिणाम ही जैनशासन है।

एक ओर स्वद्रव्य,
दूसरी ओर परद्रव्य;
—उसमें स्वद्रव्याश्रित परिणमन, वह मोक्ष का कारण है, और
परद्रव्याश्रित परिणमन, वह संसार का कारण है।

जगत में स्वद्रव्य तथा परद्रव्य एक साथ हैं किन्तु वे भिन्न-भिन्न हैं। चैतन्यस्वरूप आत्मा एक ही स्वद्रव्य है और उसके अतिरिक्त शरीरादि सब परद्रव्य हैं। पर से भिन्न चैतन्यस्वरूप स्वद्रव्य में ही अहंबुद्धि अर्थात् 'यही मैं हूँ'—ऐसी मान्यता, वह यथार्थ श्रद्धा है; और चैतन्यस्वरूप से च्युत होकर शरीरादिक परद्रव्य में अहं-ममबुद्धि, वह मिथ्याश्रद्धा है; परवस्तु को अपनी मानना, वह

विपरीत श्रद्धा है। देखो! जगत में स्वद्रव्य है और परद्रव्य भी हैं, जीव भी हैं और अजीव भी है; स्वद्रव्य का भान करके उसके आश्रय से मोक्षमार्ग की साधना करनेवाले जीव भी हैं, तथा स्वद्रव्य को भूलकर परद्रव्य में अहं-मम बुद्धिरूप भ्रमणा से संसार में भटकनेवाले जीव भी हैं। वह भ्रमणा क्षणिक पर्याय में हैं; चैतन्य की यथार्थ पहिचान द्वारा वह भ्रमणा दूर करने से सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तथा मोक्षदशा प्रगट होती है और आत्मा अखंडरूप से नित्य-स्थिर रहता है।—इसमें सातों तत्त्व आ जाते हैं।—ऐसी यथार्थ तत्त्वों की बात जैनशासन में ही है और उसी में बोधि की प्राप्ति हो सकती है; इसके अतिरिक्त कहीं बोधि का यथार्थ उपदेश या उसकी प्राप्ति नहीं है।

❀ या तो अकेले जीव को ही माने और अजीव का अस्तित्त्व जगत में बिलकुल न माने;

❀ अथवा वस्तु को सर्वथा क्षणिक परिणमनशील ही माने, और उसकी ध्रुवता को स्वीकार न करे,

❀ अथवा वस्तु को सर्वथा ध्रुव ही माने और उसकी पर्यायों का परिणमन स्वीकार न करे,

❀ अथवा राग द्वारा या निमित्तों के आश्रय से जीव का हित होना माने,

—तो वे सब अन्यमत हैं; उनमें कहीं भी यथार्थ बोधि की—मोक्षमार्ग की—प्राप्ति नहीं होती। जैनशासन में ही यथार्थ बोधि की प्राप्ति होती है। तीन भुवन में सारभूत रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग तो जैनशासन के सेवन से ही प्राप्त होता है—ऐसा उसका माहात्म्य है।

कैसा जीव, बोधि प्राप्त करता है ?

जैनशासन में बोधि प्राप्त करनेवाला जीव कैसा होता है ?—जिसे शुद्ध चैतन्यमूर्ति स्वद्रव्य में ही अहंबुद्धि हुई है और परद्रव्य में से अहंबुद्धि छूट गई है; राग में भी लाभ की मान्यता छूट गई है—ऐसा जीव जैनशासन में बोधि प्राप्त करता है। जिसे राग की रुचि है, उसे परद्रव्य की ही प्रीति है, उसे जैनशासन की खबर नहीं है; आत्मा के स्वभाव की खबर नहीं है। जैनशासन ऐसा कहता है कि शुद्धभाव ही हितकर है और वही उपादेय है। राग, वह जैनशासन नहीं है तथा वह उपादेय भी नहीं है; वह तो विकार है; इसलिये हेय है।

एक ओर शुद्धभाव, और उससे विरुद्ध विकार;

—उनमें से जिसे शुद्धभाव की रुचि है, उसे राग की रुचि नहीं है, और जिसे विकार की रुचि है, उसे स्वभाव की रुचि नहीं है।—ऐसी बात जैनशासन में ही है; इसलिये जिसे जैनशासन की रुचि है, उसे राग की रुचि नहीं है, और जिसे राग की रुचि है, उसे जैनशासन की रुचि नहीं है।

जैनशासन, राग से धर्म नहीं मानता। मंदराग से परमार्थ धर्म की प्राप्ति होगी—यह मिथ्यादृष्टि की मान्यता है। श्वेताम्बरमत भी मिथ्यादृष्टि को राग से (-दान-दया से) धर्म होना मानता है—वह सचमुच जैनशासन नहीं है।

जगत में भिन्न-भिन्न अनंत आत्मा हैं, अनंतानंत परमाणु हैं; उसमें प्रत्येक आत्मा स्वयं से परिपूर्ण एवं भिन्न है। आत्मा की क्षणिक पर्याय में राग होता है, वह भी आत्मा का परमार्थ स्वभाव नहीं है; आत्मा का शुद्ध चिदानन्दस्वभाव तो राग से भी पार है। ऐसे शुद्ध आत्मस्वभाव की समीपता होने पर, स्वभाव की निःशंक दृढ़ता होने पर, राग में से और पर में से अहंकार-ममकार बुद्धि छूट जाये, उसका नाम निरभिमानता है; और ऐसा निरभिमानी जीव रत्नत्रयरूप बोधि को प्राप्त होता है। यह साधारण लौकिक निरभिमानता की बात नहीं है; ज्ञानस्वभाव के भान बिना सभा में सबसे पीछे बैठे, या किसी के पैरों के निकट बैठ जाये, अथवा सबकी विनय करके माने कि अब इस विनय से मेरा कल्याण हो जायेगा!—तो यह कहीं निरभिमानता नहीं है; यह तो अविवेक और मूढ़ता है। यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा में 'अहं' होने से पर में से 'अहं-मम' छूट जाये, उसी को मिथ्यात्वसहित मानादि कषायें गल गई हैं; वही निरभिमानी है, और उसी को बोधि की प्राप्ति होती है।

अपने स्वरूप को भूलकर पर में अपनत्व की मान्यता, वह मिथ्यात्व है; ऐसे मिथ्यात्व के कारण जीव, अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अनादि से स्वरूप की असावधानी और पर में सावधानी, वह मिथ्यात्व था; वह भी जीव में एक अवस्था थी। अब जैनशासन का उपदेश प्राप्त करके स्वभाव की सावधानी द्वारा उस विपरीत श्रद्धा का नाश करके, सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-रमणता प्रगट की—ऐसा सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप मोक्षमार्ग, जैनशासन में ही होता है, ऐसा जैनशासन का माहात्म्य है।

अहो! जिनशासन की परम महिमा और कुन्दकुन्ददेव की वाणी

अहो! यह जैनशासन की परम महिमा है कि वह प्रत्येक आत्मा का ज्ञातादृष्टा परिपूर्ण स्वभाव बतलाता है और परद्रव्यों तथा परभावों में से अहंबुद्धि छुड़ाता है। आत्मा का ज्ञानानन्दस्वभाव है; परद्रव्य में इष्ट-अनिष्टपना करने का उसका स्वभाव नहीं है।—ऐसे स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता करने से ही सच्ची समता होती है। परद्रव्यों—ज्ञेयों में भी यह इष्ट और यह अनिष्ट—ऐसा स्वभाव नहीं है। पर में कहीं भी इष्ट-अनिष्ट करने का ज्ञान या ज्ञेय का स्वभाव नहीं

है; पर में इष्ट-अनिष्टपने की कल्पना तो बीच में ही कर लेता है। 'मैं तो ज्ञानस्वभाव ही हूँ'—यह बात यदि सचमुच समझ ले तो ज्ञाता-दृष्टा होकर समचित्त—वीतरागचित्त हो जाये! अहो! यह तो कुन्दकुन्दाचार्य भगवान की अलौकिक वाणी है। यह बात समझ ले तो अवश्य ही बोधि की प्राप्ति हो जाये। इसे समझते ही अंतर में ज्ञानस्वभाव की सावधानी से समचित्त-वीतरागभाव हो जाता है; यही जैनशासन है।

'जल में रहे मगर सों बैर!'—यह कैसे हो सकता है? उसीप्रकार इस जगत में अनंत जीव-अजीव द्रव्यों का समुद्र भरा है; उस समुद्र में रहना और परद्रव्यों से बैर रखना—यह कैसे हो सकता है? परद्रव्य तो ज्ञेय हैं, उनके साथ ज्ञाता-ज्ञेयपने का ही सम्बन्ध है, किन्तु वे बैरी होकर इस जीव का अहित करें—ऐसा उनका स्वभाव नहीं है। जगत में कोई द्रव्य किसी द्रव्य का बैरी है ही नहीं। परद्रव्य को इष्ट-अनिष्ट मानना, वह भ्रम बुद्धि है।

हे भाई! तुझे जैनशासन का सेवन करना हो तो राग का सेवन छोड़

जैनशासन कहता है कि हे भाई! तू तो ज्ञान है, तेरे ज्ञान में परद्रव्य कुछ बिगाड़ता नही हैं, और तेरे ज्ञान में शुभ-अशुभराग करने का भी स्वभाव नहीं है; तेरा आत्मा तो चैतन्यप्रकाशी ज्ञानसूर्य है, उसका बहुमान कर और राग का बहुमान छोड़। शुभराग का बहुमान भी छोड़ और अपने शुद्धस्वभाव का बहुमान कर। तुझे सचमुच जैनशासन का सेवन करना हो तो उससे विरुद्ध ऐसे राग का सेवन छोड़। जैनशासन में राग को धर्म नहीं कहा, वीतरागभाव को ही धर्म कहा है।—ऐसे जैनशासन के सेवन से ही मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है;—यह उसकी महिमा है।

जिनशासन में जिनेन्द्रदेव की आज्ञा

भाई! तेरे अंतर में पूर्ण परमात्मा विराजमान है; तेरे अंतर में भगवान परमेश्वर विराज रहा है; उसे देख! अंतर्मुख होकर उसका अवलोकन कर! अंतर में अपने आत्मा को ऐसे शुद्धस्वभाव से देखना-अनुभव करना ही जिनशासन में जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा है। समयसार की पन्द्रहवीं गाथा में भी आचार्य भगवान ने यही कहा है कि जो इस भगवान आत्मा की अनुभूति है, वही जिनशासन की अनुभूति है।

देखो.... यह जैनशासन का उपदेश!

अहो जीवों! स्वभाव की सावधानी करो... स्वोन्मुख होओ... अंतर में अपने शुद्ध आत्मा को देखो! शुद्ध आत्मा को देखते ही अनादि कालीन मिथ्यात्वरूप मोह का नाश हो जायेगा और

अपूर्व आनन्द तथा बोध तरंग सहित सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी। इसके सिवा अन्य कोई मोक्ष का उपाय नहीं है। इसलिये हे जीवों! अन्तरोन्मुख होओ... आत्मा के शुद्ध स्वभाव का लक्ष एवं पक्ष करके, उसका अनुभव करो।

—मोक्ष की प्राप्ति का ऐसा कथन जिनशासन में ही है। मिथ्यात्व तथा कषाय की व्याख्या भी अन्यमत में यथार्थ नहीं है; जैनमत में ही आत्मा के वीतरागी स्वभाव का यथार्थ स्वरूप बतलाया है; तथा उससे विरुद्ध मिथ्यात्व क्या; कषाय क्या; वह बतलाकर उनके नाश का यथार्थ उपाय भी जैनशासन में ही बतलाया है; अन्यमत में कहीं उस बात का कथन भी नहीं है और वैसा वीतरागभाव भी उनमें नहीं होता। इसप्रकार जैनशासन में ही यथार्थ बोधिरूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है।

साधक को राग होता है, किन्तु राग वह जैनधर्म नहीं है; जैनधर्म तो वीतरागभाव ही है।

जिससे आत्मा का हित हो—ऐसा जैनशासन का उपदेश है। परद्रव्योन्मुखता से लाभ होता है—यह कथन जैनशासन का है ही नहीं। स्वद्रव्योन्मुखता से ही लाभ होता है और स्वद्रव्योन्मुखता ही जैनशासन है। धर्मी को साधकदशा में राग भी होता है, किन्तु वह जानता है कि यह राग, धर्म नहीं है; धर्म तो मेरे स्वभाव के अवलम्बन से वीतरागभावरूप है।

वीतराग सर्वज्ञ जिनदेव द्वारा कथित जैनशासन तो ऐसा बतलाता है कि हे जीव! परद्रव्य से या उस ओर की उन्मुखता से कभी किसी जीव को धर्म नहीं हो सकता। स्वद्रव्योन्मुखता से ही धर्म होता है; इसलिये तू अपने स्वद्रव्य को पहिचानकर उसमें अंतर्मुख हो। भगवान स्वयं भी परद्रव्योन्मुखता से परमात्मपद को प्राप्त नहीं हुए, किन्तु अंतर में स्वद्रव्य में लीन होकर ही भगवान ने परमात्मपद की साधना की है; तथा उपदेश में भी यही मार्ग बतलाया है कि हे जीवो! तुम्हारी परमात्मशक्ति तुम्हारे आत्मा में ही है; उसी में अन्तर्मुख होओ... अंतर के अवलोकन से परमात्मपद प्रगट होता है।

—इसप्रकार जैनशासन के सेवन से ही जीव शुद्धरत्नत्रयरूपी बोधि प्राप्त करते हैं; वह बोधि तीन भुवन में सार है। तीन लोक में उत्तम सारभूत ऐसी जो रत्नत्रयरूप बोधि, वह जैनशासन के सेवन से ही जीव प्राप्त करता है; क्योंकि उसका यथार्थ उपाय जैनशासन में ही है, अन्यत्र नहीं है। इससे जिनशासन की ही महिमा है।

प्रश्न—यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव ही धर्म है और शुभराग धर्म नहीं है, तो सम्यक्त्वी धर्मात्मा को शुभराग क्यों होता है ?

उत्तर—अरे भाई ! जिसप्रकार सम्यक्त्वी धर्मात्मा को अशुभभाव भी आ जाता है, तो क्या वह धर्म है ?—नहीं; बस ! जिसप्रकार सम्यक्त्वी को अशुभभाव होने पर भी वह धर्म नहीं है, उसीप्रकार सम्यक्त्वी को शुभभाव भी होता है; तथापि वह धर्म नहीं है; धर्म तो उस अशुभ तथा शुभ दोनों से पार है; रागरहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव ही धर्म है; वीतरागी शुद्धभाव ही जैनधर्म है।

ऐसी शंका नहीं करना चाहिये कि—सम्यक्त्वी को शुभराग होता है; इसलिये वे उस शुभराग को धर्म मानते होंगे! सम्यक्त्वी की दृष्टि तो पलट गई है.... उसका परिणमन अन्तर्स्वभावोन्मुख हो गया है। अस्थिरता के कारण राग होता है, तथापि उसकी दृष्टि का ध्येय बदल गया है; दृष्टि का ध्येय तो शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव ही है। मैं तो शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव ही हूँ—ऐसी धर्मी की दृष्टि राग के समय भी नहीं छूटती। यद्यपि गृहस्थपने में सम्यक्त्वी को विषय-कषाय अभी सर्वथा छूट नहीं गये हैं किन्तु उनका ध्येय नहीं रहा है, ध्येय बदल गया है; शुद्ध आत्मा ही उसका ध्येय है। अनादि काल से पर को और राग को ही ध्येय माना था, वह बदलकर अब शुद्ध आत्मा को ही ध्येय बनाया है। और ऐसा ध्येय जैनशासन ही बतलाता है; इसलिये जैनशासन के सेवन से ही यथार्थ बोधि (रत्नत्रय) की प्राप्ति होती है।

अरे जीव ! तेरे आत्मा में प्रभुता उछलती है... और तेरी पामरता नष्ट हो जाये—ऐसी अद्भुत बात इस जैनशासन में संतों ने बतलाई है। इसलिये हे भाई ! एक बार अपनी रागबुद्धि छोड़ और यह बात समझ। इसे समझने से ही तेरा हित होगा।

गिरनारधाम में गुरुदेव का प्रवचन

['गिरनार-यात्रा महोत्सव' पर जूनागढ़ में पू० गुरुदेव का प्रवचन]

वीर सं० २४८० माघ शुक्ला १

भगवान का मार्ग

देखो, यह गिरनार नेमिनाथ भगवान की पावन भूमि है; धरती के रजकण भले ही परिवर्तित हो गये हों, किन्तु जो धर्मास्ति, अधर्मास्ति, कालाणु तथा आकाश के प्रदेश नेमिनाथ भगवान के समय में थे, वे ही आज हैं; वे बदलकर दूसरे नहीं आये; तथा जिस मार्ग से भगवान ने मुक्ति प्राप्त की, वही मुक्ति का मार्ग आज भी है, कहीं मोक्षमार्ग बदल नहीं गया है। 'जिस पंथ पर भगवान विचरे, उस पर विचरण करना' अर्थात् चैतन्यस्वभाव के जैसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से भगवान ने मुक्तदशा प्राप्त की, वैसे सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र अपने आत्मा में प्रगट करना, वह भगवान का पंथ है और वही मुक्ति का मार्ग है। —पूज्य गुरुदेव

भावमंगल और भूमिमंगल

इस जूनागढ़ के गिरनार पर्वत पर भगवान श्री नेमिनाथ प्रभु के दीक्षा, केवल और मोक्ष—यह तीन कल्याणक हुए हैं, इसलिये यह भूमि भी मंगल है। भगवान के आत्मा ने जिस पवित्र भाव से केवलज्ञानादि प्रगट किये, वह भाव तो मंगलरूप है और उसके निमित्त से यह भूमि भी मंगल है। भगवान श्री नेमिनाथ प्रभु जब साक्षात् तीर्थंकररूप से यहाँ विराजमान थे, तब श्री कृष्ण और बलभद्र जैसे शलाका पुरुष उनके चरणों में नमस्कार करते थे; स्वर्ग से इन्द्र तथा देव, भगवान की भक्ति करने के लिये उतरते थे। भगवान नेमिनाथ प्रभु को ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का भान तो पहले से ही था; किन्तु जब विवाह के लिये यहाँ आये, उस समय वैराग्य होने पर यहाँ के सहस्राम्रवन में भगवान ने दीक्षा ले ली; फिर आनन्द निधान आत्मा में रमणता करते-करते केवलज्ञान भी वहीं प्राप्त किया तथा मोक्षदशा भी इस गिरनारजी की पाँचवीं टोंक से प्राप्त की थी। जहाँ से भगवान ने मोक्ष प्राप्त किया, उसी स्थान पर इन्द्र ने भगवान के चरण चिह्न अंकित किये थे। तीर्थंकर होनेवाला आत्मा अनादि-अनंत मंगलरूप है, इसलिये भगवान का आत्मा स्वयं द्रव्य

मंगल है और भगवान के आत्मा में जो केवलज्ञानादि भाव प्रगट हुए, वह भाव मंगल है; वह काल और क्षेत्र भी मंगल है। भगवान ने अपने आत्मा में जैसा भाव प्रगट किया, वैसे भाव को जो पहिचाने, उसे यह क्षेत्र देखने पर वैसे ही भाव का स्मरण होता है। जिस भाव से भगवान ने मुनिपना, केवलज्ञान तथा मोक्षदशा प्रगट की, उस भाव को पहिचानकर अपने आत्मा में भी वैसा भाव प्रगट करना, वह अपूर्व धर्म है तथा वही परमार्थ यात्रा है।

चैतन्य की कला

भगवान नेमिनाथ स्वामी को जो केवलज्ञान हुआ, वह कहाँ से आया? आत्मा के अंतर स्वभाव में केवलज्ञान का सामर्थ्य था, उसी में से प्रगट हुआ है। प्रत्येक आत्मा में केवलज्ञान की शक्ति है, प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञशक्ति का पिण्ड है; किन्तु अनादिकाल से संसार में भटकते हुए जीव ने एक क्षण भी उसका भान नहीं किया। देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा को जाने बिना जो कुछ सीखा, वह सब परवस्तु की कला है, किन्तु चैतन्य की ज्ञानकला कभी नहीं सीखी। संसार की चार गति में परिभ्रमण करते हुए अज्ञानी जीव ने क्रूर हिंसादि के पापभाव किये हैं और दयादि के पुण्यभाव भी किये हैं, किन्तु उन पाप और पुण्य दोनों से पार चिदानन्दस्वरूप आत्मा अनादि-अनंत है, उसका भान पहले कभी नहीं किया।

शक्ति में से व्यक्ति

आत्मा का मूल स्वभाव शुद्धज्ञानघन है; सर्वज्ञ भगवान जैसी पूर्ण शक्ति उसमें भरी है। जिसप्रकार लैंडी पीपर के स्वभाव में चरपराहट का सामर्थ्य भरा है, उसी में से चौंसठ पुटी चरपराहट प्रगट होती है; बाहर के किसी साधन में से वह चरपराहट नहीं आती। उसीप्रकार आत्मा के स्वभाव में ज्ञान सामर्थ्य परिपूर्ण है, उसमें केवलज्ञान होने की शक्ति भरी है; केवलज्ञान किसी निमित्त के संयोग में से नहीं आता किन्तु अंतर की शक्ति में से ही व्यक्त होता है। ऐसे स्वभाव-सामर्थ्य की प्रतीति करना और उसमें लीनता करना, वह भवभ्रमण से छूटकर मुक्त होने का उपाय है।

दोष दूर करने की रीति

जीव चाहता है कि मैं अपने दोष दूर करके निर्दोषता प्रगट करूँ। इससे सिद्ध होता है कि दोष वर्तमान में क्षण पर्यंत हैं और वे दूर हो सकते हैं; इसलिये वह आत्मा का स्थायी स्वरूप नहीं है; वे दोष दूर हो सकते हैं और उन्हें दूर करके आत्मा निर्दोषरूप से स्थित रह सकता है। विकारी और

अल्पज्ञ ही रहे, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है, किन्तु विकार को टालकर परिपूर्ण ज्ञान प्रगट करके त्रिकालवेत्ता हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। इसप्रकार क्षणिक दोष और उन दोषों से रहित नित्यस्थायी निर्दोष स्वभाव—इन दोनों को जानकर, निर्दोष स्वभाव का अवलम्बन करने से दोष दूर हो जाते हैं और सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है।

सर्वज्ञता का सामर्थ्य

देखो, यहाँ इस गिरनार पर्वत पर भगवान नेमिनाथ ने सर्वज्ञपद प्राप्त किया था। वह सर्वज्ञता किसप्रकार प्राप्त की थी, उसी की यह बात है। किसी बाह्य साधन द्वारा भगवान सर्वज्ञ नहीं हुए हैं किन्तु अंतर की चैतन्यशक्ति का भान करके उसमें एकाग्रता द्वारा ही भगवान सर्वज्ञ हुए हैं। सर्वज्ञ होने के पश्चात् दिव्यध्वनि में भगवान ने ऐसा कहा है कि—हे जीवो! तुम्हारे आत्मा में भी सर्वज्ञ होने की शक्ति भरी है, उसका विश्वास करके उसी का अवलम्बन करो। आत्मा की शक्ति में निर्दोषता, ज्ञान तथा अविकारी आनन्दरस परिपूर्ण है, उसी में से सर्वज्ञता एवं पूर्ण आनन्द प्रगट होता है।

प्रत्येक आत्मा शक्तिरूप से सर्वज्ञपदधारी है; सर्वज्ञता की शक्ति उसी में भरी है; किन्तु निजशक्ति को भूलकर वह अपने को रागादि जितना तुच्छ मानता है; इसलिये वह संसार में भ्रमण करता है। दोष, वह आत्मा के गुण की क्षणिक विकृति है, वह स्थायी वस्तु नहीं है, और दोषरहित निर्दोष स्वभाव नित्यस्थायी है। सदोषता में से निर्दोषता नहीं आती, किन्तु जो नित्यस्थायी निर्दोष स्वभाव है, उसके आधार से निर्दोषता आती है। हिंसादि पापवृत्ति, वह विकार है; दयादि की शुभवृत्ति भी विकार है; आत्मा का स्वभाव विकाररहित सर्वज्ञ शक्तिवान है, किन्तु उसका अभान होने के कारण अज्ञानी जीव अपने को दोषयुक्त मानकर संसार में भटक रहा है।

परमेश्वर की प्रतीति

स्वयं सर्वगुणसम्पन्न परिपूर्ण परमेश्वर है, किन्तु वह अपनी प्रतीति नहीं करता। प्रतीति के बिना सम्यग्दर्शन कहाँ से हो? और सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्ज्ञान या सम्यक्चारित्र कहाँ से हो? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के बिना मोक्षमार्ग कहाँ से हो? इसलिये जिसे मोक्षमार्ग प्रगट करके आत्मा का परमहित करना हो, उसे सर्वप्रथम अपने स्वभाव सामर्थ्य को पहिचानकर उसकी प्रतीति करना चाहिये कि मेरे स्वभाव में भी सर्वज्ञ परमेश्वर जैसा परिपूर्ण सामर्थ्य है; भगवान के और मेरे आत्मा के स्वभाव सामर्थ्य में कोई अन्तर नहीं है। अनादि से अपने शुद्ध-

चिद्घन स्वभाव को भूलकर पुण्य-पाप से ही जीव ने लाभ माना है। किन्तु पुण्य-पाप रहित अपने चिद्घनस्वभाव का अवलम्बन ले तो मुझे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का लाभ हो—यह बात कभी उसके हृदय में नहीं बैठी।

सुख आत्मा के स्वभाव में है—संयोग में सुख नहीं है और न दुःख है।

मेरे अंतर के चैतन्यस्वभाव में ही मेरा सुख है—ऐसे आत्मा के सम्यग्ज्ञान बिना, बाह्यसंयोगों में सुख-दुःख की कल्पना करके अज्ञानी जीव पराश्रय में अटका है। यदि पर संयोग में सुख हो तो अल्प संयोगवाले को अल्प सुख और अधिक संयोगोंवाले को अधिक सुख होना चाहिये; किन्तु ऐसा तो नहीं होता। किसी व्यक्ति के पास पाँच लाख की सम्पत्ति हो, उसमें से एक लाख चले जायें तो शेष चार लाख होने पर भी वह दुःखी होता है; और दूसरा व्यक्ति एक लाख की सम्पत्तिवाला हो, उसे दूसरे एक लाख मिल जायें, तो वह दो लाख होने पर भी अपने को सुखी मानता है। देखो, दो लाखवाला सुख की कल्पना करता है और चार लाखवाला दुःखी की; इसलिये संयोगों के कारण सुख-दुःख नहीं है। इसीप्रकार किसी व्यक्ति के चारों ओर अनुकूल सामग्री के ढेर लगे हों और वह उनमें सुख मान रहा हो, किन्तु एक बिच्छू आकर डंक मार दे तो हाय-तोबा मचाने लगता है कि अरे रे! मैं मर गया! अगर संयोग में सुख हो तो वे ही संयोग विद्यमान होने पर भी वह सुख कहाँ गया?—इसलिये संयोग में सुख नहीं है तथा उसमें दुःख भी नहीं है। महा मुनिराज चैतन्यस्वरूप के ध्यान में लीन हों और बाह्य में शरीर को सिंह खा रहा हो, तो ऐसा प्रतिकूल संयोग होने पर भी मुनिराज को उसका दुःख नहीं होता किन्तु चैतन्य के अपूर्व आनन्द का अनुभव वर्तता है। इस प्रकार संयोगों में सुख या दुःख नहीं है किन्तु अज्ञानी जीव अपनी विपरीत मान्यता से पर में सुख-दुःख की कल्पना करता है। आत्मा के अतिरिक्त पर में सुख नहीं है तथा पर में दुःख भी नहीं है। जीव को अपनी भूल से ही दुःख है; दुःख, वह आत्मा के सुखगुण की विकृत दशा है; वह क्षणिक है और आत्मा का सुखस्वभाव त्रिकाल है। अपना चिदानन्दस्वभाव ही सुखरूप है—ऐसा लक्ष जीव ने कभी नहीं किया। जिस प्रकार चने में मिठास भरी है किन्तु वर्तमान में कच्चा होने से उसमें कचाँध आती है; उसीप्रकार भगवान आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण ज्ञान-आनन्दरस से भरपूर है, किन्तु उसके भान बिना अज्ञानरूपी कचास के कारण वर्तमान में आकुलता का स्वाद लेता है और चौरासी के अवतार में भटकता है; ऐसा होने पर भी उसके स्वभाव में सुख का अभाव नहीं हो गया है। चिदानन्दस्वभावोन्मुख होकर उसकी रुचि तथा एकाग्रता करने से

अपूर्व आत्मसुख का अनुभव होता है। इसके सिवा बाहर के किसी उपाय से सुख प्रगट नहीं होता, क्योंकि किसी भी बाह्य संयोग में आत्मा का सुख नहीं है।

आत्मा के आनन्द की बात

धर्म कहो, सुख कहो या आत्मा का आनन्द कहो—तीनों एक ही हैं। धर्म कोई बाहर की क्रिया नहीं है किंतु आत्मा की निर्दोष दशा है; धर्म ही सुख है, धर्म ही आनन्द है। धर्म में दुःख नहीं है और पुण्य या संयोग में सुख नहीं है। आत्मा के अन्तर्स्वभाव में ही वास्तविक आनन्द है; पुण्य-पाप में या उसके फल में आत्मा का आनन्द नहीं है। आत्मा के आनन्द की बात जीव ने पूर्वकाल में कभी रुचिपूर्वक नहीं सुनी है; और जब बात कानों में पड़ी, तब उसे समझकर अन्तर में नहीं बिठाया। राग में अटका किन्तु चैतन्यतत्त्व राग से पार है, उस चैतन्य की रुचि करने में राग का अवलम्बन है ही नहीं; राग से पार होकर चैतन्य की रुचि पूर्व अनंतकाल में जीव ने कभी नहीं की। राग में और राग के फल में आनन्द मानकर रुक गया किन्तु अन्तर्मुख होकर चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंद को नहीं जाना।

प्रकृति का नियम

अज्ञानभाव से संसार की चारों गतियों में जीव परिभ्रमण करता है। जो जीव अनेक तीव्र पाप करता है, वह उनका फल भोगने के लिये नीचे नरक में जाता है। नीचे नरकगति का स्थान है, वह युक्ति से भी सिद्ध हो सकता है। देखो, इस लोक में क्षणभर में एक खून करनेवाला मनुष्य यदि पकड़ा जाये तो सरकार उसे एकबार फाँसी देती है; लेकिन कोई मनुष्य दीर्घकाल तक हजारों-लाखों मनुष्यों को मार डालने के परिणाम करे तो यहाँ उसे क्या सजा दी जायेगी?—उसे भी एकबार फाँसी दी जायेगी।—तो क्या एक खून और हजारों खून करनेवाले—दोनों को समान दण्ड? नहीं; प्रकृति के नियम में ऐसा नहीं हो सकता। हजारों मनुष्यों की हिंसा करने के तीव्र पाप परिणाम का फल वह जीव नरक में भोगता है। और कोई जीव बड़े-बड़े कत्लखाने चलाने का तीव्र पाप करने पर भी सुखी दिखाई देता है;—तो क्या पाप के फल में सुख होता है? नहीं; उसे जो सुख दिखाई देता है, वह तो पूर्व पुण्य का फल है, और वर्तमान में जो क्रूर पाप कर रहा है, उसका फल वह नरक में जाकर भोगेगा। नरक में अपार दुःख है। चैतन्यस्वभाव के भान बिना तीव्र पापभाव करके जीव नरक के दुःख भी अनंतबार भोग चुका है। चारों गति के अवतार जीव ने अनंत बार किये हैं। भले ही वर्तमान में उनकी खबर न हो किन्तु अनादि से अभी तक का काल चार गति में ही

बीता है; कभी उसकी मुक्ति नहीं हुई। जिसप्रकार छह महीने का बालक था और माता के गर्भ में था—उस बाल्य अवस्था की खबर नहीं होती, तथापि उस समय था तो अवश्य न ? उसीप्रकार पूर्व अनंत काल में कहाँ था, वह इस समय याद न होने पर भी उस समय जीव कहीं था तो अवश्य न ?—कहाँ था ? मोक्ष तो प्राप्त किया नहीं है; इसलिये संसार की चार गतियों में ही अभी तक का काल गँवाया है। संसार में शुभभाव करके महान देव हुआ और महान पाप करके अनंत बार नारकी हुआ; तथा तीव्र माया-दंभ के परिणाम करके अनंत बार तिर्यंच हुआ और सरलता आदि कुछ मंद परिणामों से पुण्य करके मनुष्य भी अनंत बार हुआ; किंतु उन चारों गतियों के भव और उन भवों के कारणरूप विभाव—दोनों से रहित चिदानन्दस्वरूप मेरा आत्मा है—ऐसे भान बिना कभी जीव का कल्याण नहीं हुआ। इसलिये प्रथम आत्मा की जिज्ञासा प्रगट करना चाहिये और पात्र होकर सत्समागम से चैतन्य वस्तु को समझकर उसका विश्वास होना चाहिये ?

क्या करना ?

प्रश्न—इसमें क्या करने को कहा ?

उत्तर—बाह्य में तो कुछ भी करने को नहीं कहते, क्योंकि वह तो आत्मा के हाथ की बात नहीं है। और अज्ञानी पुण्य-पाप तो अनादि से करता ही आ रहा है, उसमें कहीं आत्मा का हित नहीं है; इसलिये वह करने का भी कैसे कहा जा सकता है ? जिसे आत्मा का अपूर्व हित करना हो; इस भवभ्रमण के दु:ख से आत्मा को उबारना हो, उसे अंतर में अज्ञान दूर करके आत्मा का वास्तविक ज्ञान करना चाहिये, वही करना है।

धर्म का साधन

आत्मा पर से तो शून्य है अर्थात् परवस्तु-रहित खाली है; आत्मा में परवस्तु नहीं है और परवस्तु में आत्मा नहीं है; तो फिर परवस्तु से आत्मा को सुख हो या परवस्तु, आत्मा को धर्म में सहायक हो—ऐसा कभी नहीं होता। अंतर का शुद्ध चैतन्यस्वभाव ही धर्म का साधन है।

वात्सल्य एवं भक्ति का भाव धर्मी को आता है

जिसे धर्म का प्रेम हो, उसे दूसरे धर्मात्माओं के प्रति भी वात्सल्य एवं प्रीति का भाव आता है; भगवान के प्रति तथा साधक संत—धर्मात्माओं के प्रति भक्ति का भाव आता है; किंतु वहाँ भगवान मुझे कुछ दे देंगे—ऐसा अभिप्राय नहीं है, और उस शुभराग से धर्म होगा—ऐसा भी नहीं मानते।

प्रश्न—यदि सम्यक्त्वी राग से धर्म नहीं मानते तो उन्हें भक्ति आदि का राग क्यों होता है ?

उत्तर—भाई ! राग होता है, वह चारित्र का अपराध है, किंतु श्रद्धा का अपराध नहीं है। राग के समय भी धर्मी को 'मैं राग रहित चिदानन्दस्वभाव हूँ'—इसप्रकार स्वभाव में ही अपनत्व वर्तता है—स्वभाव की प्रतीति वर्तती है, इसलिये श्रद्धा सुधरी है; किंतु श्रद्धा सुधरने से चारित्र भी उसी क्षण पूरा सुधर जाये—ऐसा कोई नियम नहीं है; इसलिये राग से धर्म न मानने पर भी वीतरागता नहीं हुई है; इसलिये धर्मी को राग होता है; उसमें सम्यक् श्रद्धा का किंचित् भी अपराध नहीं है। धर्मात्मा को अपने निरालम्बी चैतन्यस्वभाव का सम्यग्दर्शन और ज्ञान हुआ है; पर से लाभ या राग से धर्म होता है—ऐसा स्वप्न में भी नहीं मानते; परन्तु अभी स्वयं को पूर्णता प्रगट नहीं हुई है, वीतरागता नहीं हुई है, पूर्णता की भावना वर्तती है; वहाँ पूर्णता को प्राप्त हुए सर्वज्ञ भगवान के प्रति तथा उसके साधक संतों के प्रति भक्ति के उल्लास का शुभभाव उन्हें आता है, तथापि उस समय भी दृष्टि में तो एक चैतन्यस्वभाव का ही अवलम्बन वर्तता है; जितना चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन वर्तता है, उतना ही धर्म है।

संसार और मोक्ष कहाँ है ?

देखो, यह धर्म की बात है। आत्मा की अनादिकालीन दीनता दूर होकर धर्म का अपूर्व लाभ हो—उसी का यह उपाय कहा जा रहा है। लोग कहते हैं कि—'कुछ मिला ? कोई सिद्धि (प्राप्ति) हुई ?' उसीप्रकार यहाँ आत्मा को सिद्धि हो अर्थात् आनन्द की मिठास का अपूर्व लाभ हो, उसकी यह बात है। भाई ! अनादि से तूने पुण्य-पाप किये किंतु उनमें तुझे कोई सिद्धि नहीं हुई—आत्मा के आनन्द की प्राप्ति नहीं हुई; इसलिये अब उन पुण्य-पाप का अवलम्बन छोड़कर चिदानन्दस्वभाव की प्रतीति कर तो तुझे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति हो और तेरा अपूर्व कल्याण हो। चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से ऐसा उपाय करके भगवान परम हितरूप मोक्ष पद को प्राप्त हुए। वह मोक्षदशा कहाँ से आई ? आत्मा में से ही प्रगट हुई है। आत्मा की पूर्ण शुद्धदशा, वह मोक्ष है और आत्मा की अपूर्ण शुद्धदशा, वह संसार है। आत्मा का मोक्ष तथा संसार—यह दोनों आत्मा में ही हैं। कहीं शरीर-कुटुम्ब-मकानादि परसंयोगों में आत्मा का संसार नहीं है। यदि बाह्य संयोगों में आत्मा का संसार हो तो मरते समय उन किन्हीं भी वस्तुओं को जीव अपने साथ नहीं ले जाता; वे सब यहीं छूट जाती हैं; इसलिये संसार भी छूट जाना चाहिये और मोक्ष हो जाना चाहिये—परन्तु ऐसा नहीं होता। संसार तो जीव की अपनी विकारी दशा है, वह पर में नहीं है; मरते समय जीव

अपने विकार भाव को साथ ले जाता है, वह संसार है। आत्मा का संसार और मोक्ष पर में नहीं है और उस संसार तथा मोक्ष का कारण भी पर में नहीं है। अपने में जो मिथ्यात्वादि अशुद्धभाव, वही संसार का कारण है और सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव, वह मोक्ष का कारण है।

सुखी होने के लिये भगवान का संदेश

जिसे सुखी होना हो, धर्मी होना हो, संसार से छूटकर आत्मा की मोक्षदशा प्रगट करना हो, उस जीव के लिये भगवान का सन्देशा है कि भाई! तेरी मुक्ति का उपाय तेरे आत्मा से बाहर नहीं है, किंतु तेरे आत्मा में ही मुक्ति का उपाय है। आत्मा के स्वभाव को पहिचानकर उसका अवलम्बन ले तो मुक्ति का उपाय प्रगट हो। यहाँ गिरनार पर नेमिनाथ प्रभु अंतर के चिदानन्द भगवान का अवलम्बन करके ही मुक्ति को प्राप्त हुए। जब भगवान अरिहंतदशा में विराजमान थे, उस समय दिव्यध्वनि द्वारा जगत के जीवों को ऐसा सन्देश दिया कि प्रत्येक आत्मा चिद्घन स्वभाव से परिपूर्ण स्वयंभू है; उसे अपने मोक्ष के लिये बाह्य साधन नहीं ढूँढ़ना पड़ते; स्वयं ही में मोक्ष का साधन होने की शक्ति है। ऐसे आत्मस्वभावोन्मुख होकर उसकी प्रतीति करो... उसमें एकाग्रता करो... वही मुक्ति का मार्ग है और वही शांति का पथ है; इसके सिवा अन्य किसी उपाय से मुक्ति का मार्ग प्रगट नहीं होता।

भगवान का मार्ग

देखो, यह गिरनार नेमिनाथ भगवान की पवित्र भूमि है; धरती के रजकण भले ही बदल गये हों किन्तु जो धर्मास्ति, अधर्मास्ति, कालाणु तथा आकाश के प्रदेश नेमिनाथ भगवान के समय में थे, वे ही आज हैं, कहीं वे परिवर्तित होकर दूसरे नहीं आ गये हैं, तथा भगवान जिस मार्ग से मुक्ति को प्राप्त हुए, वही मुक्ति का मार्ग आज है, कहीं मोक्षमार्ग दूसरा नहीं बन गया है।—तो इस गिरनारजी की यात्रा में हमें जानना चाहिये कि भगवान नेमिनाथ स्वामी ने किसप्रकार मोक्ष प्राप्त किया। उसे जानकर अपने में भी वैसा उपाय प्रगट कर ले तो आत्मा का कल्याण हो जाये। 'भगवान ने जिस पंथ पर विचरण किया, उस पंथ पर विचरना' अर्थात् चैतन्यस्वभाव के जैसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से भगवान मोक्षदशा को प्राप्त हुए, वैसे ही सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र अपने आत्मा में प्रगट करना, वह भगवान का पंथ है और वही मुक्ति का मार्ग है।

जय हो नेमिनाथ भगवान की!

परमात्मस्वरूप का ध्यान करो!

वही परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय है

अहो, संसार में तेरा आत्मा ज्ञान और आनन्द की अचिन्त्य विभूति से परिपूर्ण है... अपने आत्मा की विभूति को तो देख! यह देहादि तो जड़ हैं; उनमें कहीं तेरा अधिकार नहीं है। तेरा चैतन्यतत्त्व देह से पार, अचिन्त्य ज्ञान-आनन्द के वैभव से परिपूर्ण है; उस वैभव में से परमात्मपद की प्राप्ति होगी। प्रभु! एक बार अपनी प्रभुता को देख। सर्वज्ञ भगवन्तों ने तेरी प्रभुता के ही गीत गाये हैं... शास्त्रों ने भी तेरी प्रभुता की ही महिमा गाई है... इसलिये तू एक बार तो अपनी प्रभुता का उल्लास ला! परमात्म शक्ति सन्मुख होकर जिसने आत्मा में उसकी रुचिरूपी गंध प्रगट की, उसने उस सुगंध रूपी अगरबत्ती द्वारा परमात्मा की पूजा की... अंतर में परमात्म शक्ति भरी है; उस ओर उन्मुख होकर उसकी आराधना करना ही परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय है। *[श्री मोक्ष प्राभृत गाथा ३२ से ३४ के प्रवचनों से]*

आत्मा की आराधना से मोक्ष हो, उसकी यह बात है। आत्मा के शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप के ध्यान द्वारा जो राग की वृत्ति दूर करके वीतराग हुए तथा केवलज्ञान प्रगट किया—ऐसे श्री जिनवरदेव कहते हैं कि हे भव्य! ज्ञान-दर्शनस्वरूप ऐसा जो तेरा परम आत्मस्वभाव है, उसके ध्यान द्वारा ही मुक्ति होती है। अशुभ तो छोड़ने योग्य है ही, तथा शुभरागरूप समस्त व्यवहार भी छोड़ने योग्य हैं; उस व्यवहार को छोड़कर शुद्ध चिदानन्द आत्मा के ध्यान द्वारा ही परम पद की प्राप्ति होती है। चौथे गुणस्थानवाले सम्यक्त्वी को ऐसी श्रद्धा होती है कि मुझे अपने शुद्ध चिदानन्द -स्वरूप के अवलम्बन से ही मोक्षदशा होना है; अंतर में ध्यान द्वारा सहज चिदानन्द आत्मा के अनुभवरूपी अमृत का पान करना ही कर्तव्य है; बीच में शुभ व्यवहार आये, वह छोड़ने योग्य है। धर्मात्मा छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए मुनि को भी व्रत-तप-विनय-उपदेशादि की जो शुभवृत्ति उठती है, किन्तु वह छोड़ने योग्य है; जब उस शुभवृत्ति को भी छोड़कर वीतराग होंगे तभी केवलज्ञान तथा मोक्षदशा प्रगट होगी। इसलिये भगवान ने सर्व व्यवहार छोड़कर ज्ञानानन्दस्वरूप परम आत्मा का ध्यान करने को उपदेश में कहा है।—ऐसा जानकर जो योगीजन, जिनदेव कथित परमात्मा का ध्यान करते हैं, वे मुक्ति प्राप्त करते हैं। आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है—उसे

जाने बिना उसका ध्यान नहीं हो सकता। ध्यान अर्थात् उपयोग की एकाग्रता; उपयोग की एकाग्रता कहाँ करना है, उसे जाने बिना ध्यान किसका करेगा? इसलिये ध्येयरूप शुद्धात्मा कैसा है—उसे पहिचान कर, फिर उसमें एकाग्र होकर उसका ध्यान करे और उस ध्यान द्वारा राग का अभाव होकर शुद्धता प्रगट हो, उसका नाम मोक्ष है। इसप्रकार आत्मा के शुद्धस्वरूप को ध्या-ध्याकर ही अनंत जीव परमपद को प्राप्त हुए हैं। अंतर में अपनी पूर्ण ज्ञान तथा आनन्द शक्ति स्वतंत्र है; किसी दूसरे के आधीन नहीं है।—इसप्रकार अपनी अंतरशक्ति को पहिचानकर उसी के ध्यान द्वारा उसमें लीन होकर शक्ति में से पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण आनन्द प्रगट करके परमात्मा हुए हैं और इसी विधि से निर्वाण पद की प्राप्ति होती है—ऐसा जिनवरदेव का उपदेश है। इसलिये शुद्ध आत्मा को पहिचानकर उसमें एकाग्ररूप ध्यान, वह परम कर्तव्य है।

मुनिवरों को शुद्धचिदानन्द आत्मा के ध्यान द्वारा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो पहले हो चुका है; तदुपरान्त अब चैतन्य में अत्यन्त एकाग्रता प्रगट हुई है। ऐसी मुनिदशा में आत्मा के ध्यान की मुख्यता है; आत्मा के अतीन्द्रिय अमृतानुभव की मस्ती में लीन हैं; और जब ध्यान में स्थिर नहीं रह सकते, तब शास्त्र अध्ययनादि करते हैं। जिसे पाप की या पुण्य की भावना है, उसे शुद्ध आत्मा की ध्यानदशा किंचित् भी प्रगट नहीं हुई है—वह तो मिथ्यादृष्टि है, उसे मुक्ति दशा कहाँ से होगी? यह तो सम्यग्दर्शन के उपरान्त आत्मा में अत्यन्त लीनतारूप मुनिदशा की बात है। उस मुनिदशा में जो पंच महाव्रतादि की शुभवृत्ति हो, उस वृत्ति को भी छोड़कर निर्विकल्प आत्मध्यान में लीन हो, तब केवलज्ञान होता है। प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी शुद्ध आत्मा के निर्विकल्प ध्यान द्वारा ही होता है; चारित्रदशा भी शुद्ध आत्मा के ध्यान द्वारा ही होती है और फिर केवलज्ञान भी शुद्ध आत्मा के ध्यान में लीनता द्वारा ही होता है। इसलिये कहते हैं कि हे मुनिजनों! निरन्तर ध्यान का अभ्यास करो... परमात्मस्वरूप की भावना करो!

देखो, शास्त्र अध्ययन को ध्यान का अंग कहा-अर्थात् क्या? कि—वीतराग के शास्त्र अंतर्मुख होना ही बतलाते हैं। इसलिये वीतराग सर्वज्ञ के शास्त्रों का अध्ययन करते हुए भी अंतर्मुख होने का आशय का ही मंथन होता है; बहिर्मुखता से दूर होने और अंतर्मुखता करने का ही उपदेश भगवान ने किया है; इसलिये भगवान कथित शास्त्रों के अभ्यास में भी आत्मध्यान की भावना का ही मंथन होता है; इसीलिये शास्त्र अध्ययन को ध्यानतुल्य कहा है।—इसप्रकार अंतर्मुख दृष्टिपूर्वक अभ्यास करे उसकी यह बात है। राग से लाभ माने तो उसने सर्वज्ञ के शास्त्रों

का अध्ययन किया ही नहीं है। सर्वज्ञ के शास्त्र तो राग छोड़ने को तथा आत्मा में अंतर्मुख होने को कहते हैं। इसलिये रत्नत्रय धारक मुनियों का मुख्य कर्तव्य तो आत्मध्यान है; और आत्मध्यान में लीन न रहा जा सके, तब आत्मध्यान पोषक शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। शांति का वेदन तो स्वभाव के ही आश्रय से होता है। इसलिये प्रथम अपने स्वरूप का निर्णय करके फिर उसका ध्यान करते हैं। शास्त्रों में परमात्मस्वरूप का निर्णय कराया है। देह से पार, राग से पार आत्मा का परमशुद्ध स्वरूप क्या है, उसका निर्णय कराके शास्त्रों में उसी की महिमा गाई है; इसलिये शास्त्रों के अध्ययन में भी मुनिवरों को शुद्ध आत्मस्वरूप की ही भावना का मंथन होता है।

अरिहंत भगवान और सिद्ध भगवान पराश्रयरहित, स्वाश्रय से ही परमपद को प्राप्त हुए हैं; इसलिये जो शास्त्र स्वाश्रयोन्मुख होना ही बतलायें तथा पराश्रय से किंचित् लाभ न मनायें, वे ही भगवान कथित शास्त्र हैं;—ऐसे शास्त्र, आत्मा की परमात्मशक्ति का निर्णय कराके उसमें अन्तर्मुख होने को कहते हैं... आत्मा के अंतरध्यान द्वारा ही राग का नाश होकर केवलज्ञानमय परमात्मपद की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त परमात्मा ने अन्य मार्ग का सेवन नहीं किया है और न उपदेश में ही अन्य मार्ग कहा है। जिस रीति से भगवान ने परमात्मदशा प्रगट की है, वही रीति उन्होंने उपदेश में बतलाई है। आत्मा का विचार करते हुए अंतर में एकाग्रता करना पड़ती है; बाह्य में नहीं देखना पड़ता; क्योंकि आत्मा की शक्ति अंतर में ही भरी है; इसलिये अंतरोन्मुख होकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रतारूप ध्यान होता है।—इसप्रकार अंतरोन्मुख होने पर ही परमात्मा हो सकते हैं। अंतर्मुख होकर वस्तु के स्वभाव की ही साधना करना है, बाह्य में कुछ भी साधने को नहीं है। इसलिये कहते हैं कि हे भाई! अपने परम आत्मस्वरूप का निर्णय करके उसी का ध्यान करना, और ध्यान में न रहा जा सके, तब ऐसे परमात्मस्वरूपोन्मुख होने का उपदेश देनेवाले वीतरागी शास्त्रों का अध्ययन करना। मोक्ष का उपाय तो रागरहित होकर अंतर में परमात्मस्वरूप का ध्यान करना ही है।

जिसे आत्मा की पूर्ण शुद्धदशारूप मोक्ष की भावना हो, उसे क्या करना चाहिये—यह बात चल रही है। मैं तो शुद्ध चिद्रूप हूँ; देह मन-वाणी मैं नहीं हूँ; मैं तो शुद्ध चिदानन्द परमात्मा हूँ; मेरा आत्मा ही परमात्मा है—इसप्रकार अंतर में अपने परमात्मस्वभाव को पहिचानकर उसका ध्यान करना ही परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय है। अनंत चतुष्टय की शक्ति से परिपूर्ण मैं ही कारणपरमात्मा हूँ—इसप्रकार कारण के ध्यान से कार्य प्रगट हो जाता है। कारणपरमात्मा की

भावना से आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाता है। शास्त्रों का निचोड़ यह कि तेरा आत्मा ही परमात्मा है, उसे तू लक्ष में ले! तेरी परमात्मदशा कहीं बाहर से नहीं आयेगी, किन्तु तेरे आत्मा में ही परमात्मा होने की शक्ति भरी है; उसके ध्यान द्वारा उसे खोल तो परमात्मदशा प्रगट हो। अतीन्द्रिय आनन्दरस तुझमें ही भरा है... पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन, पूर्ण वीर्य तथा पूर्ण आनन्द से तू भरपूर है... उसमें अंतर डुबकी लगा तो उसी में से पूर्ण ज्ञान-दर्शन-वीर्य और आनन्दरूप परमात्मदशा विकसित हो जायेगी। यदि अंतर में न हो तो कहाँ से आ सकती है?—इसलिये अंतरस्वभाव को ही लक्ष में ले... अपने स्वभाव का अंतर अवलोकन कर; वही परमात्मा होने का उपाय है तथा वही सब शास्त्रों का सार है। शास्त्र पढ़-पढ़कर क्या करना?—तो कहते हैं कि—'मैं शुद्ध चिदानन्द आनन्दकन्द परमात्मा हूँ'—इसप्रकार अपने आत्मा को लक्ष में लेकर उसे ध्याना चाहिये।

मैं देह, मैं मन, मैं वाणी, मैं कर्म, मैं राग—ऐसी जिसकी दृष्टि है, वह तो मूढ़ बहिरात्मा है; उसे शास्त्रों के रहस्यों के रहस्य की खबर नहीं है। मैं देह से पार, मन से पार, वाणी से पार, कर्म से पार तथा राग से पार, अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्दमय भगवान हूँ—इसप्रकार तत्त्वत: अपने आत्मा को शुद्ध चिदानन्दस्वरूप से पहिचानकर अनुभव लेना वही सर्व शास्त्रों का निचोड़ है... वही सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा है... वही मुक्ति का मार्ग है।

अहो! अंतर में तेरा आत्मा अतीन्द्रियज्ञान और आनन्द की विभूति से परिपूर्ण है... अपने आत्मा की विभूति को तो देख! यह देहादि तो जड़ हैं, उनमें कहीं भी तेरा अधिकार नहीं है। तेरा चैतन्यतत्त्व देह से पार, अचिन्त्य ज्ञान-आनन्द के वैभव से भरपूर है; उस वैभव में से परमात्मपद प्राप्त होगा! प्रभु! एकबार अपनी प्रभुता को देख! सर्वज्ञ भगवन्तों ने तेरी प्रभुता के ही गीत गाये हैं... शास्त्रों ने भी तेरी प्रभुता की ही महिमा गाई है। प्रभुता की शक्ति तेरे आत्मा में भरी है—उसका एकबार उल्लास तो ला। अपनी प्रभुता को पहिचानकर उसकी आराधना कर... वही परमात्म पद की प्राप्ति का उपाय है।

चिदानन्दस्वभावोन्मुख होकर जो जीव उसके ध्यान द्वारा रत्नत्रय की आराधना करता है, वह आराधक है, और आराधना का फल केवलज्ञान है—ऐसा अब कहते हैं।

अंतर्मुख होकर ऐसी निर्विकल्प प्रतीति करना कि 'मेरा आत्मा ही परमात्मा है'—वह सम्यग्दर्शन की आराधना है। अंतर्मुख होकर आत्मा का स्व-संवेदनज्ञान करना, सो सम्यग्ज्ञान की आराधना है; और परमात्मस्वरूप के अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में लीनता करना, सो सम्यक्

चारित्र की आराधना है।—इसप्रकार जो जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय की आराधना करता है, वह आराधक है, और उसकी आराधना का फल केवलज्ञान है।

देखो, यह आत्मा की सेवा करने की रीति!! आत्मा स्वयं परमात्मशक्ति से परिपूर्ण है, उस ओर उन्मुख होकर जिसने आत्मा में उसकी रुचिरूपी गंध प्रगट की, उसने उस सुगंधरूपी अगरबत्ती द्वारा परमात्मा की पूजा की है... और उसमें लीन होकर आनन्दरस के अनुभव में एकाग्र हुआ, उसने आनन्दरूपी जल द्वारा आत्मा का अभिषेक किया है... इसप्रकार अपने परमात्मस्वरूप की रुचि करके उसके अनुभव में लीन होना ही परमात्मा की सच्ची उपासना है; वही आराधना है और वही परमात्म पद की प्राप्ति का उपाय है।

भगवान! अपने स्वरूप का सेवन करने की यह रीति एकबार तो सुन!

मिथ्यादृष्टि को या सम्यग्दृष्टि को भी, राग तो बंध का ही कारण है; शुद्धस्वरूप परिणमनमात्र से ही मोक्ष है।

समयसार के पुण्य-पाप अधिकार के ११० वें कलश में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि:—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्मबंधाय तन्
मोक्षायस्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥११०॥

अर्थ—जब तक ज्ञान की कर्म विरति बराबर परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती, तब तक कर्म और ज्ञान का एकत्वपना शास्त्र में कहा है; उनके एकसाथ रहने में कोई भी क्षति अर्थात् विरोध नहीं

है। परन्तु यहाँ इतना विशेष जानना कि आत्मा में अवशरूप से जो कर्म प्रगट होते हैं अर्थात् उदय होता है, वह तो बंध का कारण होता है, और मोक्ष का कारण तो, जो एक परम ज्ञान है, वह एक ही होता है कि जो ज्ञान स्वत: विमुक्त है (अर्थात् त्रिकाल परद्रव्यभावों से भिन्न है।)

भावार्थ—जब तक यथाख्यातचारित्र नहीं होता, तबतक सम्यग्दृष्टि को दो धाराएँ रहती हैं—शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा। वे दोनों साथ रहने में कुछ भी विरोध नहीं है। (जिस प्रकार मिथ्याज्ञान को और सम्यग्ज्ञान को परस्पर विरोध है, उसी प्रकार कर्म सामान्य को और ज्ञान को विरोध नहीं है।) उस स्थिति में कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है। जितने अंश में शुभाशुभ कर्मधारा है, उतने अंश में कर्म बन्ध होता है; और जितने अंश में ज्ञानधारा है, उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है। विषय-कषाय के विकल्प अथवा व्रत-नियम के विकल्प-शुद्ध स्वरूप का विकल्प तक कर्म बंध का कारण है। शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है। (समयसार नई गुजराती आवृत्ति, पृष्ठ २६३-६४)

पुनश्च, इस कलश के अर्थ में श्री राजमल्लजी भी साफ स्पष्टीकरण करते हैं कि:—

''**यहाँ कोई भ्रान्ति करेगा**—'मिथ्यादृष्टि को यतिपना क्रियारूप है, वह तो बंध का कारण है; किन्तु सम्यग्दृष्टि को जो यतिपना शुभ क्रियारूप है, वह मोक्ष का कारण है; क्योंकि अनुभव ज्ञान तथा दया, व्रत, तप, संयमरूपी क्रिया—यह दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय करते हैं।'—ऐसी प्रतीति कोई अज्ञानी जीव करता है, उसका समाधान इसप्रकार है—

जो कोई भी शुभ-अशुभ क्रिया—बहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अंतर्जल्परूप अथवा द्रव्य के विचाररूप अथवा शुद्ध स्वरूप के विचार इत्यादि—है, वह सब कर्म बंध का कारण है; ऐसी क्रिया का ऐसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि का ऐसा तो कोई भेद नहीं है (अर्थात् अज्ञानी के उपरोक्त कथनानुसार शुभक्रिया मिथ्यादृष्टि को तो बंध का कारण हो और वही क्रिया सम्यग्दृष्टि को मोक्ष का कारण हो—ऐसा तो उनका भेद नहीं है) ऐसी क्रिया से तो उसे (सम्यक्त्वी को भी) बंध है और शुद्ध स्वरूप परिणमनमात्र से मोक्ष है। यद्यपि एक ही काल में सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्धज्ञान भी है और क्रियारूप परिणाम भी है; किन्तु उसमें जो विक्रियारूप परिणाम है, उससे तो मात्र बंध होता है; उससे कर्म का क्षय एक अंश भी नहीं होता—ऐसा वस्तु का स्वरूप है;—तो फिर इलाज क्या?—उस काल ज्ञानी को शुद्ध स्वरूप का अनुभवज्ञान भी है, उस ज्ञान द्वारा उस समय

कर्म का क्षय होता है, उससे एक अंश मात्र भी बंधन नहीं होता;—ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है; वह जैसा है वैसा कहते हैं।''

(देखो, समयसार कलश टीका हिन्दी पुस्तक पृष्ठ ११२ सूरत से प्रकाशित)

उपरोक्तानुसार स्पष्टीकरण करके फिर उस कलश का अर्थ विस्तारपूर्वक लिखा है; उसमें भी तत्सम्बन्धी स्पष्टता है। उसमें अंत में लिखते हैं कि—''शुभक्रिया कदापि मोक्ष का साधन नहीं हो सकती, वह मात्र बन्धन ही करनेवाली है—ऐसी श्रद्धा करने से ही मिथ्या बुद्धि का नाश होकर सम्यग्ज्ञान का लाभ होगा। मोक्ष का उपाय तो एकमात्र निश्चयरत्नत्रयमय आत्मा की शुद्ध वीतराग परिणति है।''

(विशेष के लिये देखिये समयसार कलश टीका हिन्दी पृष्ठ ११२ से ११४)

(सूरत से छपा हुआ ग्रंथ)

ग्राहकों को सूचना

आत्मधर्म का वार्षिक चंद (लवाजम) चैत्र मास में पूर्ण होता है, इसलिये कृपया ३) रु० मनिआर्डर से शीघ्र भेज दीजिये, जिससे वी०पी० खर्च ॥= की आपको बचत होगी। आशा है आप इसमें देरी न करेंगे।

निवेदक – मैनेजर

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

विविध प्रश्नोत्तर

कर्म का फल

प्रश्न—'कर्म का फल धर्म'—ऐसा हो सकता है ?

उत्तर—हाँ।

प्रश्न—किस प्रकार ?

उत्तर—आत्मा का जो शुद्ध ज्ञानचेतनारूप कर्म है, उसका फल धर्म है।

(—प्रवचनसार, गाथा १२६ के प्रवचन से)

❀ ❀ ❀

धर्म की क्रिया अफल!

प्रश्न—'परम धर्म' रूप क्रिया सफल है या अफल ?

उत्तर—अफल।

प्रश्न—किस प्रकार ?

उत्तर—परमधर्मरूपी क्रिया चार गतिरूप फल नहीं देती, इसलिये वह अफल है। द्रव्य के परम स्वभावभूत होने के कारण, 'परम धर्म' नाम से कही जानेवाली उस क्रिया का, मोह के साथ मिलन का नाश हो गया है, इसलिये वह मनुष्यादि कार्य को उत्पन्न नहीं करती, इसलिये वह अफल ही है।

प्रश्न—तो कौन सी क्रिया सफल है ?

उत्तर—चेतन परिणाम स्वरूप जो क्रिया, मोह के साथ मिलित है, वही क्रिया मनुष्यादि कार्य की निष्पादक होने से सफल है; अर्थात् जीव की मोहसहित क्रिया चार गतिरूप फल प्रदान करती है, इसलिये वह सफल है

आत्मा की जो 'परम धर्म' रूप क्रिया है, वह मोक्ष के लिये सफल है तथा संसार के लिये अफल है।

और मोह के साथ मिलनरूप जो क्रिया है, वह संसार परिभ्रमण के लिये सफल तथा मोक्ष के लिये अफल है।

(प्रवचनसार गाथा ११६ के प्रवचन से)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	जैन बालपोथी	।)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समयसार पद्यानुवाद	।)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
आत्मावलोकन	१)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५- ६-७-८-१० वर्ष	३ ।।।)
द्वितीय भाग	॥-)		

हिन्दी आत्मधर्म की फाइलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७,, ८, १० यह आठ फाइलें एक साथ लेने
वालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।